

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत-२५३९ अंक-१८३, वर्ष-१६, दिसम्बर-२०१२

आसो वद ७, सोमवार, दि.२३-१०-१९७८, बहिनश्री के वचनामृत,
वचनामृत-३४१ पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन - १२८

निज चेतनापदार्थ के आश्रय से अनंत अद्भुत आत्मिक विभूति प्रगट
होती है। अगाध शक्तिमें से क्या नहीं आता?

३४१ बोल है। 'निज चेतनपदार्थ के आश्रय से...' चैतन्य पदार्थ तो भगवान भी चेतनपदार्थ है परन्तु यहाँ आत्मा निज पदार्थ, जिसे त्रिकाली ज्ञायक कहे, जिसे भूतार्थ कहे, सत्यार्थ कहे ऐसा जो निज पदार्थ चेतन, उसके आश्रयसे। आहा..हा..! ये (संप्रदायवालों) को नहीं सुहाता इसलिये एकान्त है ऐसा कहते हैं। दया, दान, व्रत व्यवहार रत्नत्रय से भी सिद्धि होती है, तब अनेकान्त कहा जाये, ऐसा कहते हैं। आहा..हा..! हालाँकि सो तो मिथ्या अनेकान्त है। सम्यक् एकांत तो यह जो निजपदार्थ जो कि पूर्ण आनंद ध्रुव सामान्य परिणाम जिसका आश्रय करे। भाषा से कैसे कहा जाय? परिणाम उसका आश्रय करे मतलब? परिणाम तो परिणाम है परन्तु परिणाम उस ओर ढले तब आश्रय किया ऐसा कहा जाता है। ऐसा है।

मुमुक्षु :- आश्रय लेना...

पूज्य गुरुदेवश्री :- आश्रय कौन देवे? आश्रय कहाँ था उधर? भाषा में इसे क्या कहे? 'भूदत्थमस्सिदो खलु' लीजिये! ऐसी भाषा है। ११वीं गाथा। भूतार्थ आश्रित अर्थात् परिणाम जो कि पर ओर झुके हुए हैं वे परिणाम तो वहीं रहे। बाद में जो परिणाम उत्पन्न हुए उस परिणाम को उसमें लगा।

आहा..हा..! क्या भाषा करें? समय तो एक ही है। कथन क्या करे? आहा..हा..! इस भगवान को पकड़ना माने क्या? परिणाम जो इस ओर झुके हुए हैं, पर्याय पर्याय के विषय में रुचिवंत है, पर्याय राग की ओर रुचिवंत है वह पर्या तो वहीं की वहीं रही। आहा..हा..! परन्तु तत् पश्चात् परिणाम को (इस ओर झुका)। सूक्ष्म बात, बापू! लोगों को एकांत लगे, वे बेचारे चिल्लाते हैं। अखबार में आया है। 'बुलंदशहर' में पूरे शहर की ऐसी पुकार (है कि) जितना भी यहाँ का साहित्य है उसे मंदिर से निकाल दिया जाये। निकाल दिया। अरे..! प्रभु क्या करेत हो? बापू! भाई! भगवान की यह पुकार है। सुबह नहीं आया? कि, शुभभाव है सो अजीव है, भाई! वह जीव की जाति नहीं। शुभभाव। आहा..हा..! वह अजीव है। यानी? चैतन्य स्वभाव का स्वरूप उसमें



नहीं है। आहा..हा..! इसलिये भगवान उसे अजीव ऐसा कहते हैं। आहा..हा..! जबकि चेतनपदार्थ जो कि त्रिकाली ज्ञायक स्वरूप उसके आश्रय से आहा..हा..! सम्यग्दर्शन, ज्ञान, शांति 'अद्भुत आत्मिक विभूति प्रगट होती है।' आहा..हा..!

जिसके संग्रह में संग्रहित, प्रस्थापित अनन्त ज्ञान, अनन्त आनंद, अनन्त शांति नाम चारित्र वीतरागता, ऐसा जो भगवान चैतन्य पदार्थ का स्वभाव, उसका आश्रय लेने से यानी कि परिणति को अंतर्मुख करने पर। आहा..हा..! कल कहा नहीं था? 'श्रीमद्'में से कहा था कल। 'मूल मार्ग सांभळो जिननो रे, करी वृत्ति अखंड सन्मुख' 'करी वृत्ति' वृत्ति नाम परिणति। अखण्ड नाम द्रव्य स्वरूप अखण्ड वस्तु। 'करी वृत्ति अखण्ड सन्मुख मूल मार्ग सांभळो जिननो रे।' बापू! मार्ग तो ऐसा है। आहा..हा..! 'छे देहादि थी भिन्न आत्मा रे,' देहादि मतलब देह, कर्म, पुण्य और पाप के भाव 'ऐनाथी भिन्न आत्मा रे, उपयोगी सदा अविनाश' वह तो ज्ञानदर्शन के उपयोगवाला तत्त्व है, प्रभु! चैतन्यपदार्थ कहो या उपयोगस्वरूप कहो। त्रिकाल, हँ! आहा..हा..! 'उपयोगी सदा अविनाश' अविनाश है, वह तो ध्रुव है। 'मूल मार्ग सांभळो जिननो रे' ऐसा मार्ग है। आहा..हा..! इन शब्दोंमें सरल भाषा में कह दिया। आहा..हा..!

निज चेतनपदार्थ यानी पर भगवान पदार्थ सो नहीं। आहा..हा..! निज भूतार्थ पदार्थ। प्रमत्त-अप्रमत्त दशा रहित जो ज्ञायकभाव। आहा..हा..! ऐसा जो निज चेतन पदार्थ। आहा..हा..! '(उसके) आश्रय से अनंत अद्भुत आत्मिक विभूति...' आहा..हा..! पर्याय में अनन्त जो भी गुण हैं, अद्भुत स्वभाव के सामर्थ्य से भरे, इसका आश्रय करने से तेरी पर्याय में प्रभु! तुझे अनन्त विभूति प्रकट होगी। आहा..हा..! क्योंकि जितने गुण हैं इतने गुणों को एकरूप वस्तु चैतन्यपदार्थ, उसका आश्रय करने से परिणाम को द्रव्य की भेट होने

पर... आहा..हा..! भगवान में जो अनन्त विभूति पडी हैं उन अनन्त विभूति, अद्भुत आत्मिक विभूति, देखा? वह लौकिक में धूल (पैसे) की और ये तेरे पैसे करोड़ या दो करोड़ और धूल मिट्टी के ढेर वह (विभूति) नहीं। आहा..हा..! क्या कहा?

मुमुक्षु :- जवाहरात हो वह भी मिट्टी के?

पूज्य गुरुदेवश्री :- जवाहरात क्या बड़ा हीरा करोड़ का नहीं है? दस करोड़ का वह उसके पास नहीं था? (अपने मुमुक्षुके) मामा 'सरदारशहर' में दस करोड़ कीमत थी तब। उन दिनों में है! अभी तो इसकी कीमत और बढ़ गई। परन्तु कितने करोड़ के हीरे भरे थे पिटारे में। (अपने मुमुक्षु है) उसके मामा। दस करोड़ तो उस वक्त की कीमत बोली जाती थी। ये तो ५० साल पहले की बात है। अभी तो इसकी कीमत बढ़ गई। आहा..हा..! ढेर सारे हीरे से भरा हुआ। आहा..हा..! फिर भी वे जब कपड़े सिलाते तब डोरी की क्या कहते हैं? रील वह भी वापिस ले लेते। आहा..हा..! और दवाई खत्म होने पर बोतल बेचने जाये। आदमी को भेजे भले ही। अरेरे..! प्रभु! क्या करते हो तुम? ऐसा कहते, कोई कहता था हँ। इसलिये हमारी सुनी हुई बात है।

मुमुक्षु :- पैसा ही परमेश्वर माना है न उन्होंने?

पूज्य गुरुदेवश्री :- अरर..! बापू! परमेश्वर तो चैतन्य पदार्थ भगवान पूर्ण परमेश्वर (है)। नहीं आता है? ३८ गाथामें नहीं आया था? मेरे परमेश्वर को मैं भूल गया। ३८ वीं गाथा में आता है। आहा..हा..! परम इश्वर, परम शक्तियों का भंडार सागर नाथ आत्मा। आहा..हा..! अरे..! बाल गोपाल, बालक, चाहे आठ साल की कन्या हो तो भी जिसने इस अद्भुत निज पदार्थ का आश्रय किया तो उसे... भाषा है न। 'सर्व गुणांश ते समकित' इसका अर्थ ऐसा कि, अनन्त विभूति

अद्भुत प्रकट होगी, भाई! आहा..हा..! दूसरा कोई रास्ता नहीं है। आहा..हा..!

शास्त्रमें कहीं ऐसा आया हो कि, कर्मकाण्ड से ज्ञानकाण्ड होता है। 'प्रवचनसार' में आता है, आखिर में। कर्मकाण्ड से ज्ञानकाण्ड होता है। वह तो निमित्त का ज्ञान कराया, भाई! ऐसे कर्मकाण्ड तो अनन्तबार किये हैं परन्तु क्यो नहीं हुआ? आहा..हा..! यहाँ कर्मकाण्ड है सो तो अजीब है, ऐसा कहा भगवान ने तो। आहा..हा..! ये व्रत, तप और जितने भी विकल्प उठते हैं प्रभु! सो तो आस्रव तत्त्व में कहा है न प्रभु ने। वह तो पुण्यास्रव है। आहा..हा..! इससे स्वभाव का आश्रय हो सकता है क्या? जिससे भिन्नता करनी है क्या उसके आश्रय से अंतरमें जा सकते हैं? आहा..हा..!

यहाँ कहते हैं, निजपदार्थ चेतनपदार्थ। निज पदार्थ है कौन? कि, चेतनपदार्थ है वह। आहा..हा..! जागृत स्वभाव स्वरूप पदार्थ हैं वह। अकेला उपयोग ज्ञायकभाव। इसमें अविनाभावी अनन्तगुण भले ही हो। आहा..हा..! यह चेतनपदार्थ जो निज उसके आश्रयसे। आहा..हा..! भगवान नौवीं, दसवीं, ग्यारहवीं ऐसा कहा, छठवीं में ऐसा कहा और १५६ में ऐसा कहा। 'विद्वज्जन भूतार्थ त्यागकर व्यवहार में वर्तन करे, परन्तु कर्म क्षय का विधान तो...' कर्म क्षय तो निज आत्मा के आश्रयसे होता है। आहा..हा..! परमार्थ आश्रित संत को, ऐसा है न शब्द? 'परन्तु कर्म क्षय का विधान तो परमार्थ आश्रित संतको...' भगवान परमानंद का नाथ पूर्ण स्वरूप जिसके आश्रयसे मुक्ति होती है। उसके आश्रय से मार्ग प्राप्त होता है और उसीके आश्रय से मुक्ति होती है। आहा..हा..! भगवान की ऐसी पुकार है उसे आप एकांत कहते हो, प्रभु! आहा..हा..! धर्म को लांछन लगता है, प्रभु! आहा..हा..!

यहाँ तो भगवान पूर्णानंद है उसका आश्रय छोड़कर और राग के आश्रय से लाभ मनवाये,

प्रभु! वह लांछन है। आहा..हा..! यह परम पदार्थ महाप्रभु, इसका अनादर करने जैसा है। भाई! आहा..हा..! वीतराग स्वभाव से भरा निजपदार्थ उसे इस राग के आश्रय से लाभ हो? आहा..हा..! भगवान भीख माँगे आहा..हा..! राग की भीख माँगे कि, राग मुझे हो, राग मुझे उत्पन्न हो, इससे मेरा कल्याण होगा। अरे..! प्रभु! आहा..हा..! ऐसा भिखारीपना छोड़! आहा..हा..!

निज चेतनपदार्थ भगवान पूर्ण ज्ञायक भाव, भूतार्थ भाव, सत्यार्थ भाव, त्रिकाल भाव, ध्रुव भाव, सामान्य भाव, एकरूपभाव, सदृश्यरूप भाव। आहा..हा..! इसके आश्रय से अनन्त अद्भुत पर्याय में शक्तिमें से व्यक्तता (हो)। शक्तिवंत निज पदार्थ का जिन्होंने आश्रय किया। आहा..हा..! उसकी वर्तमान पर्यायदशा में अनन्त अद्भुत विभूति प्रकट होती है। आहा..हा..! अनन्त आत्मिक विभूति, इतने शब्द पड़े हैं न? अनन्त अद्भुत आत्मिक विभूति। आहा..हा..!

तुझे क्या करना है? प्रभु! दूसरा क्या करना है? और तो सबकुछ तू कर चुका। सबकुछ मतलब? शुभाशुभ भाव अनन्तबार किये। भाई! इसमें कही भी भगवान हाथ नहीं आया। क्योंकि वह उसमें है नहीं, शुभाशुभ भाव स्वरूप में नहीं है। वह तो चैतन्यपदार्थ है। ज्ञान जागृत ज्योति, जागृत ज्योति प्रज्वलित है अंदरमें। आहा..हा..! उसके आश्रय से, भगवंत! तेरे निज पदार्थ के आश्रय से। आहा..हा..! अनन्त अद्भुत (आत्मिक विभूति प्रगट होती है)। क्योंकि वस्तु है वह अद्भुत शक्तियों का भंडार है। उसका आश्रय लेने से 'अनंत अद्भुत आत्मिक विभूति प्रगट होती है।' आहा..हा..! एक पंक्ति है लेकिन गजब की है। आहा..हा..!

बारह अंग में भी यही कहा है। आया है न कलश में? बारह अंग कोई अपूर्व नहीं कहते। आहा..हा..! परन्तु उसमें अनुभूति कही है भगवान

ने, ऐसा कहा। आहा..हा..! अनुभूति माने? त्रिकाली ज्ञायकभाव का आश्रय लेकर अनुभव करना सो अनुभूति। आहा..हा..! प्रभु! उसे भले ही तू एकांत कहे परन्तु प्रभु वह सम्यक् एकांत है। आहा..हा..! 'श्रीमद्' में नहीं आया एक वचन? अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त ऐसे निजपद की प्राप्ति के सिवा अन्य हेतु से (उपकारी) नहीं है। वह उधर कहा था।

अनेकान्त भी द्रव्य और पर्याय दो अनेक हैं अनेकान्त हैं, अनेक धर्म हैं। उसमें भी सम्यक् एकांत-त्रिकाली स्वभाव का आश्रय वह सम्यक् एकांत। आहा..हा..! इसके सिवा निजपद की प्राप्ति के अलावा अन्य हेतु से नहीं है, प्रभु! आहा..हा..! निज प्रभुता का माहात्म्य न आये और राग की क्रिया का माहात्म्य आये, प्रभु! वह तो अजीव का माहात्म्य है, भाई! आहा..हा..! निज पदार्थ के आश्रय से, चैतन्य निज पदार्थ के आश्रय से, चैतन्य पदार्थ के अवलंबन से। आहा..हा..!

उपर चढ़ना हो तो यूँ रस्सी का आलंबन लेता हैं न? वैसे भगवान को अंतर में उर्ध्वगति करनी हो तो आत्मा का अवलंबन लेना पड़े। आहा..हा..! जब तो ऊपर जायेगा जहाँ नीचे है वहाँ से। राग की क्रिया में एकत्व है न? प्रभु! मतलब तू नीचे हो, प्रभु! इससे तुझे उपर उठना हो तो द्रव्य का, द्रव्य का आलंबन लेना पड़ेगा। आहा..हा..! ऐसी बातें है। सामान्य मनुष्य को तो सुननी भी कठिन लगे इसलिये दूसरा रास्ता पकड़ लिया। भाई! दूसरा रास्ता ऐसा नहीं होगा। आहा..हा..!

सिर पर मौत के नगारे बज रहे हैं, नाथ! न जाने कब पूरा हो जायगा? आहा..हा..! देखो न! क्षण में कुछ का कुछ हो जाता है। यह (मुमुक्षु को) अभी ऐसी पीड़ा (है)। कल से वहाँ ले गये हैं, कल आये थे, देखा। मैं नीचे उतरा। श्वास तो था परन्तु अंतर में जी घबराता होगा

बहुत। ये पूरा हड्डियों का खोसला मांस के लोचे इसमें कहीं खून का दबाव बढ़ जाये। भगवान तो अंदर में भिन्न है। आहा..हा..!

मुमुक्षु :- भगवान उलझ गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- जीव उलझा है वह अपनत्व के कारण उलझा है। वस्तु में उलझन का कारण नहीं है, वस्तु में मिथ्यात्वभाव नहीं है। आहा..हा..! सो तो कहा नहीं सुबह में? राग की एकताबुद्धिरूप अध्यवसान है वह मिथ्यात्व है। वह अजीव है। भगवान स्वरूप में वह है नहीं। आहा..हा..! मिथ्यादृष्टिरूप मिथ्या शल्य भगवान स्वरूप में है नहीं। आहा..हा..!

मुमुक्षु :- द्रव्य के स्वरूप में नहीं है?

पूज्य गुरुदेवश्री :- वह तो पर्याय के लक्ष से, निमित्त के लक्ष्य से पर्याय में पर्याय के भाव से उत्पन्न हुआ, गुणभाव से नहीं। आहा..हा..! भगवान में अनन्त गुण भरे हैं, प्रभु में तो। उस गुण के अवलंबन से मिथ्यात्व होगा क्या? वस्तुमें है नहीं अंदर में, आहा..हा..!

मुमुक्षु :- एक गुण का अवलंबन लेनेसे भी राग होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री :- वह तो भेद करे तो। एक गुण कारण तो ऐसा कहा है, 'प्रवचनसार' में असाधारण ज्ञान कारण को पकड़कर। आहा..हा..! पाठ तो ऐसा है वहाँ, 'प्रवचनसार' प्रथम (अधिकार) असाधारण कारण ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा, जो अन्य में नहीं है, जैसा दूसरा नहीं है।

मुमुक्षु :- ज्ञान कहकर द्रव्य कहना चाहते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री :- वह ज्ञान मतलब ही पूरा आत्मा। क्योंकि जाननेवाला ज्ञान है, दूसरे गुण जानते नहीं। अपना अस्तित्व कायम रखते हैं, दूसरे गुण अपना अस्तित्व बनाये रखते हैं परन्तु वे अपने आपको नहीं जानते। आहा..हा..! इसलिये यह ज्ञान गुण ही सबको जानता है। अपने आपको जानता

है अनन्त द्रव्योंको, अनन्त गुणों को, अनन्तानन्त पर्यायों को और वर्तमान अपनी अनन्त पर्यायों को (जानता है)। भिन्न-भिन्न जो अस्तित्व है वह जो-जो पर्याय है वह अपने आप को नहीं जानती। आहा..हा.. !

ऐसी जो ज्ञान की पर्याय ज्ञायकभाव के अवलंबन से जो होती है, वह पर्याय स्वयं स्वतंत्र अनन्त गुण से भिन्न (है)। और वास्तवमें तो यह जो पर्याय है वह श्रद्धा की पर्याय के कारण सम्यक् पर्याय हुई सो बात भी नहीं है। आहा..हा.. ! प्रत्येक गुण की पर्याय स्वतंत्र अपने से होती है। आहा..हा.. ! अरेरे.. ! यह निज द्रव्य के आश्रय से जो अनन्त विभूति में ज्ञान पर्याय प्रकट हुई, स्व को पकड़ने की जो ज्ञानपर्याय, वह पर्याय भी निश्चय से तो षट्कारक के कारणों से परिणमन करके प्रकट हुई है। आहा..हा.. ! आश्रय भले ही इसतरफ का किया, परन्तु वह प्रगट हुई है षट्कारक से स्वतः प्रगट हुई है। वह पर्याय कर्ता, पर्याय कार्य, पर्याय कारण वही पर्याय संप्रदान, वही पर्याय अपादान, वही पर्याय अधिकरण। आहा..हा.. ! ऐसी बात है। क्योंकि, द्रव्य है वह तो ध्रुव कुटस्थ है, अपरिणामी है। आहा..हा.. !

मुमुक्षु :- ऐसा कुछ श्वेताम्बर में लिखा नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- श्वेताम्बर में कहाँ कोई बात है? उन लोगों को बेचारों को दुःख लगे, हैं! परन्तु वह वस्तु नहीं है, भाई! यह तो दिग्म्बर संत मतलब 'केवलियों के केडायत' आहा..हा.. ! अरे भाई! यह पक्ष नहीं है, भाई! यह तो वस्तु का स्वभाव ऐसा है। यह दिग्म्बर पक्ष ऐसा मानता है, श्वेताम्बर (ऐसा मानता है)। अरे.. ! प्रभु! सो बात नहीं है। यह वस्तु ऐसी है। वीतरागमूर्ति प्रभु है उसके आश्रय से जो विभूति पर्याय प्रगट होती है वह वीतरागी पर्याय प्रगट होती है। राग के आश्रय से यह प्रगट होता है और राग से ऐसा

होता है, ऐसा वस्तु का स्वभाव नहीं है। आहा..हा.. ! समझ में आया?

'मोक्षमार्ग' में आया है श्वेताम्बर का जहाँ आखरी लेख है न? वे लोग शुभ से स्वर्ग भी मानते हैं और शुभ से मोक्ष भी मानते हैं। आखरी शब्द है, पाँचवाँ श्वेताम्बर का आखरी। आखिर में लिखा है। आहा..हा.. ! है यहाँ? यह 'मोक्षमार्ग' है न? पाँचवाँ। 'तथापि वे व्रतादिरूप शुभ उपयोग से देवगति का बंध मानते हो और उसे ही मोक्षमार्ग मानते हैं।' आहा..हा.. ! पाँचवाँ अधिकार। कठिन लगे। प्रभु! क्या करें? राग से जो धर्म मानते हैं वह अन्यमत है, वह जैनमत ही नहीं है। आहा..हा.. ! जैनमत तो वीतरागमूर्ति प्रभु, ऐसी वीतराग पर्याय से जीव को धर्म होता है, उसका नाम जैन धर्म और जैनमत है। आहा..हा.. ! क्या करें? उन लोगों में तो बंधमार्ग और मोक्षमार्ग को एक कर डाला। जो कि मिथ्या है। दुःख लगता है। वह भी कहा न? 'मोक्षमार्ग' में ऐसा कौनसा मार्ग है कि, जो सबको अच्छा लगे? क्या करे? भाई! आहा..हा.. ! प्रभु! तेरी भी करुणा से बात करते है, नाथ! तू दुःख में ले ले ऐसा नहीं होता, भाई! आहा..हा.. !

भगवान अंदर परमात्मस्वरूप कृत्यकृत्य भगवत् स्वरूप बिराजमान हैं इसके आश्रय से लाभ हो या पर और राग के आश्रय से हो जाय? आहा..हा.. ! बड्डपन को छोड़कर हीन की दशा ली। आहा..हा.. ! भगवान महाप्रभु, उसे अवलंबन में लेता है 'अनन्त अद्भुत आत्मिक विभूति प्रगट होती है।' आहा..हा.. ! 'अधाग शक्तिमें से क्या नहीं आता।' आहा..हा.. !

मुमुक्षु :- जैसे नहीं आते।

पूज्य गुरुदेवश्री :- राग भी नहीं आता। आहा..हा.. ! कहो भाई! ऐसी बातें हैं, प्रभु! भाई! दुनिया को बहुत कठोर लगे। यहाँ का साहित्य प्रभु! यहाँ का साहित्य सम्यक् चैतन्य का आश्रय

लेने की बात करता है। आहा..हा..! चाहे जितनी बातें लिखी हो लाख, करोड़ परन्तु यहाँ का साहित्य मतलब प्रभु के आश्रय से होता है। आहा..हा..! वह स्वरूप भगवान, जिसे ग्यारहवीं गाथा में भूतार्थ कहा, छठी गाथामें ज्ञायक कहा, जिसे १५६ वीं गाथा में व्यवहार छोड़कर भूतार्थ कहा। आहा..हा..! प्रभु! वह तुझे महंगा पड़ेगा लेकिन मार्ग तो ऐसा है। आहा..हा..!

धर्मी को शुभभाव में भी रस नहीं है, आते हैं (किन्तु) रस नहीं होता। फिर कोई अशुभभाव के रस में जुड़ जाये अशुभ में तो उसकी दृष्टि भी नहीं रहती। क्या कहा यह? जहाँ शुभभाव भी नहीं सुहाता है, उसमें रस नहीं है। रस तो भगवान का रस है उसका रस है। आहा..हा..! इसमें भी कोई जीव स्वच्छंदी होकर अशुभ के रस में चढ़कर मान ले कि, मुझे तो अशुभभाव है तो भी निर्जरा है। भाई! ऐसा नहीं है। वह क्या याद आया? ज्ञानी का भोग निर्जरा का हेतु है। भाई! यह क्या कहा? बापू! आहा..हा..! ज्ञानी को जो विकल्प उठता है, वह है तो दुःखरूप। भोग से निर्जरा? फिर तो भोग के भाव को छोड़ने का सवाल नहीं उठता। यह तो दृष्टि का जोर दिखाने के लिये कि जिन्हें ज्ञायक चैतन्य महाप्रभु जिनकी दृष्टि में वर्तता है उन्हें कोई भाव आये तो भी दृष्टि की अपेक्षा अल्पस्थिति में रस बंध होता है जिसे नहीं के बराबर गिना है, ऐसा कहा। परन्तु अगर वह अशुभभाव में रसपूर्वक, प्रेमपूर्वक हो जाय तो द्रव्य का आश्रय नहीं रह सकता। आहा..हा..! समझ में आया? दृष्टि द्रव्य पर से हट जाती है। ज्ञानी को जो अशुभभाव आते हैं उसमें काले नाग के बराबर दुःख लगता है उसे। आहा..हा..! उसका जिसे रस नहीं है, उसमें से सुखबुद्धि उड़ गई है, भाई! भगवान आनंद का नाथ उसमें सुखबुद्धि अटक गई है वहाँ। आहा..हा..!

‘अगाध शक्तिमें से क्या नहीं आता?’ आहा..हा..! भगवान तो अगाध शक्ति का भण्डार पड़ा है न, प्रभु! आहा..हा..! जिसकी सिद्ध की पर्याय के पीछे भी उसकी प्रभुता की कोई सीमा नहीं है। सिद्ध की तो एक समय की पर्याय है और ऐसी अनन्तानन्त पर्यायों से भरा एक गुण, ऐसा अनन्त गुणों का भण्डार अगाध शक्तियों का भण्डार प्रभु है। आहा..हा..! उसका आश्रय लेने से क्या प्रगट नहीं होवे? आहा..हा..!

‘भरत’ चक्रवर्ती, जिन्हें ३२ कवल का आहार। जिनका एक कवल छियानवें करोड़ का पायदल भी नहीं हजम कर सके। ऐसा उनका ३२ कवल का भोजन। एक कवल की कीमत अरबों रुपये। हीरा और मानिक की भस्म करके उसे घी में डालते हैं जिसमें गेहूँ डाले रहते हैं। इसे गेहूँ पी जाता है, उसकी रोटी बनाये। आहा..हा..! ऐसे बत्तीस कवल का आहार। आहा..हा..! फिर भी वह विकल्प रसयुक्त नहीं होता। ३२ कवलमें से एक कवल छियानवें करोड़ का पायदल हजम न कर सके ऐसा जिनका आहार। आहा..हा..! फिर भी ऐसे आहार प्रत्ययी भाव अशुभभाव है, उसमें रस नहीं है। आहा..हा..! समझ में आया? आहा..हा..! ऐसी अगाध शक्ति का नाथ प्रभु! आहा..हा..! इसमें से क्या नहीं आता? ये सवा दो पंक्ति चली। आहा..हा..! ग्यारहवीं और छठी का सार है यह। आहा..हा..! ३४२ बड़ा है।



श्री अनुभवसंजीवनी वचनामृत-१०२७ पर
पूज्य भाईश्री शशीभाई का प्रवचन,
प्रवचन नं.१० (दि.१६-१-१९९७, भावनगर)

जो एकरूप ज्ञानाकाररूप प्रगटरूपसे प्रकाशमान है, जो सर्वदा अचल और निराबाध रहता है, ऐसा जीवका स्वरूप ज्ञायकता अत्यंत अनुभवका कारण है - अनुभूतिस्वरूप है। परकी ओर देखनेसे अर्थात् अपनेमें अपने आपको नहीं देखनेसे, परन्तु अपनेमें - पर नहीं होते हुए भी - परको देखनेसे (परके प्रतिभासमें परके अस्तित्वका भ्रम होनेसे) खुद अपनी विद्यमानताको भूलता है। परन्तु अनुभवगोचर होता हुआ स्पष्ट चैतन्य, जो जीवका स्वरूप, वह जीवके प्रति (स्वयंके प्रति) उपयोग मोड़नेसे प्रगट दिखता है - वेदनमें आता है। खुद अपनेसे परोक्ष कैसे रह सकता है ? खुद तो प्रत्यक्ष ही है, प्रत्यक्षको प्रत्यक्षरूपसे देखनेसे वेदनप्रत्यक्षता आविर्भूत होती है। अनन्त ज्ञानी प्रतीतिमें स्वयंको प्रत्यक्ष कर-करके अजर-अमर हुए - यह स्वमें अभेदज्ञानका प्रयोग है। (१०२७)

‘जो एकरूप ज्ञानाकाररूप प्रगटरूप से प्रकाशमान है, जो सर्वदा अचल और निराबाध रहता है, ऐसा जीव का स्वरूप ज्ञायकता अत्यंत अनुभव का कारण है...’ क्या कहते हैं ? जो एकरूप ज्ञानाकाररूप प्रगटरूप से प्रकाशमान है। आत्मस्वरूप। और ‘जो सर्वदा अचल और निराबाध रहता है...’ ऐसा जो जीव का स्वरूप है वह इसप्रकार हमेशा है। फिर क्यों यह भूल जाते हो ? इस विषयमें क्यों भूल होती है ? यह बाद में लिया है। परन्तु कोई देखना चाहे तो जीव का स्वरूप प्रकाशमान है और प्रकाशमान है तो वह किस प्रकार से है ? वह ज्ञानाकाररूप प्रकाशमान है। ज्ञानसामान्य लेना। सामान्यज्ञानस्वरूप जीव हमेशा प्रकाशमान रहता है। जीव के स्वरूप से वह कभी विचलित (नहीं होता) स्वयं अपने स्वरूप से कभी विचलित होकर अजीव स्वरूप हो जाये, विभाव स्वरूप हो जाय ऐसा नहीं बन सकता।

निराबाध रहता है मतलब उसे कोई बाधा पहुँचा सके, यह भी सम्भव नहीं है। नाश करने की बात तो बहुत दूर की है, इसका तो सवाल ही नहीं उठता। जबकि जीव को कोई चोट पहुँचा सके, बाधा पहुँचा

सके ऐसी कोई वस्तुस्थिति ही नहीं है। वैसे देखा जाये तो स्पर्श कर सके यह भी सम्भव नहीं है। अस्पर्श स्वभावी होने से स्वयं भी किसी का स्पर्श न कर सके, कोई दूसरा स्वयं को स्पर्श नहीं कर सकता। अस्पर्श में दोनों आते हैं। आपस में दोनों का स्पर्श। अस्पर्श मतलब, खुदका स्पर्श नहीं है, स्पर्शगुण नहीं होने से स्पर्श की पर्याय नहीं है। हलकी, भारे, मुलायम, रूखी, ठण्डी, गरमी कोई अवस्था नहीं है। परन्तु दूसरा कोई भी स्पर्श कर सके, जड़ या चेतन पदार्थ ऐसा भी जीवका स्वरूप नहीं है। ऐसा सर्वदा यानी कि हमेशा अचल रहता है व निराबाध रहता है। ऐसा जो ज्ञायकपना है, जो कि ज्ञायकपने से पकड में आता है, ज्ञायकपने से ग्रहण होता है वह अत्यंत अनुभव का कारण है। यानी कि अत्यंत अनुभूतिस्वरूप ही है।

ज्ञान में अभी ज्ञेयों की अनेक आकृति होनेसे ज्ञानविशेष है उसमें अनेक पर्याय, विधविध पर्याय, विचित्र पर्याय ज्ञेय अनुसार होती है। परन्तु यहाँ जो अनुभूतिस्वरूप है उसमें ऐसी कोई विचित्रता नहीं है। वह भी ज्ञान की ही पर्याय है। अनुभव भी ज्ञान की

ही पर्याय है। जानना वह भी ज्ञान की पर्याय है। वेदन करना और अनुभव करना भी ज्ञान की ही पर्याय है। अध्यात्म के प्रकरण में वेदन की प्रधानता है, जानने की नहीं। परन्तु वेदनका मालूम होना, ज्ञानवेदन का ज्ञान में मालूम होना, ऐसा सामान्यतः प्राथमिक अवस्था में बनना संभव नहीं है। अतः जाननेरूप ज्ञान से वेदन तक ले जाने की ज्ञानियों की योजना होती है।

क्योंकि जानना... जानना... यह तो सबको मालूम होता है कि मैं जान रहा हूँ। मेरा जानना हो रहा है। ऐसे अनेक ज्ञेयाकारो का जानना वह अत्यंत स्थूल है। अतः इससे सब परिचित हैं। अतः वहाँ से स्वलक्ष कराने का योजना में एक प्रकार है। स्वलक्ष वहीं से कराते हैं कि, देख तू जो जाननेवाला है वही तू है। जो अनेकपना, जानने में अनेक को जानने का अनेक भाव, अनेक प्रकार, अनेक आकार ये जीव का स्वरूप नहीं है। जो कि ज्ञानविशेष है और इसे गौण कराते हैं। अध्यात्म में इसे गौण कराते हैं।

मुमुक्षु :- अनेक को जानना यह जीव का स्वरूप नहीं है ?

पूज्य भाईश्री :- नहीं। अनेक को जानते हुए ज्ञानमें जो अनेकविधपना मालूम होता है न? ज्ञान ज्ञेयकाररूप होता है मतलब कि ज्ञान की पर्याय भी अनेकरूपता धारण करती है। जीव का मूलस्वरूप एकरूप है, अनेकरूप नहीं है। जीव अपने मूलस्वरूप से अनभिज्ञ है। अनेक ज्ञेयोंको जाननेरूप ज्ञान से तो स्वयं परिचित है फिर भी उससे आत्मस्वरूप जानने में नहीं आता। जानने में आता है क्या? सबलोग कहते हैं कि मैं ज्ञान द्वारा जानता हूँ। और जानते-जानते परज्ञेय के साथ संबंध जोड़ लेता है। परज्ञेय का प्रतिबिंब झलकता होने से भ्रांतिगतरूप से परज्ञेय के साथ संबंध की कल्पना करता है। जिसमें से राग-द्वेष-मोह, विभाव सब उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसा कहते हैं कि तू जानता है तो तू अपने आप को जान। अपने आप को जानते हुए तुझे ऐसा मालूम होगा कि मैं तो एकरूप ज्ञान ही मेरा स्वरूप है। उसमें भी स्वसंवेदन और अनुभव है वह मेरा स्वरूप है।

यहाँ एक विधि-विषयक Under Tone है।

आंतरध्वनि। जीव का जो स्वरूप कहा, एकाकार, एकरूप, ज्ञानाकार, सदा अचल और अव्याबाधरूप से प्रकाशमान वह अत्यंत अनुभव का कारण है। वह अनुभव का कारण है इतना ही न लिया परन्तु अत्यंत कारण है। अनुभव का अत्यंत कारण है और एकमात्र यही कारण है। ऐसा स्वरूप विषयक एक कारणपना हमेशा हमेशा मौजूद है। ऐसा कारणपना भी अनन्त है। अनन्त इसलिये है क्योंकि कभी उसका कारणपना मिटता नहीं है इसलिये। जैसे शुद्धत्व कभी नहीं मिटता मतलब अनन्त शुद्धत्व है, वैसे कारणपना कभी नहीं मिटता होने से अनन्त कारणपना है। इसलिये उसे अत्यंत कारणपना कहा।

एक दृष्टांत ले कि आकाश में पूनम का चंद्र मौजूद हो और साथ में कुछ बादल भी हो। एकदम स्वच्छ आकाश न हो तो कोई ऐसा कहेगा कि मुझे तो पूनम का चंद्र होते हुए भी मालूम नहीं पड़ता। पूनम का चंद्र यानी कि पूर्णचंद्र-पूरा। दूसरे-दूसरे दिनों में अपूर्ण होता है न? पूर्णिमा के दिन पूर्ण चंद्र खिलता है इसलिये उसका नाम पूर्णिमा रखा है। पूर्णता सूचक नाम है। पूनम अर्थात् पूर्णिमा। उसवक्त कोई आदमी ऐसा कहे इतना बड़ा स्पष्ट चंद्र सामान्य बादलों के कारण तुम्हें दिखता नहीं हैं? उसे कोई पूछे कि उसे दिखने का कारण क्या मौजूद है? तो कहेगा कि इसकी प्रकाशित अवस्था। आकाश में वह प्रकाशित होने से दिखता है। हमें आश्चर्य होता है कि, तुझे क्यों नहीं दिखता है? बादल तो हलके से साधारण हैं। इसके कारण से इतना बड़ा चंद्र-प्रकाश का पूँज न दिखे ऐसा कैसे सम्भव है? क्योंकि उसका प्रकाशत्व है वह उनकी विद्यमानता को प्रसिद्ध करता है। उसका प्रकाशमानपना उसकी विद्यमानता को अत्यंतरूप से प्रसिद्ध करता है।

इस दृष्टांत अनुसार ज्ञायकपना है वह अत्यंत अनुभव का कारण है। एकदम स्पष्ट ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... के बिना ज्ञान नहीं होता तो? कल्पना तो कीजिये! जैसे अपने यहाँ हिन्दी में कहावत है कि, 'आप मूआँ तो डूब गई दुनिया' जीवने अपनी सृष्टि बसायी है, यह मेरा कुटुम्ब, यह मेरा घर, ये सब पैसा, समाज यह देश... परन्तु

वह सृष्टि कहाँ तक? जीव है तब तक। मर जाने के पश्चात् उसकी कोई दुनिया है क्या? वैसे ये सब जो भी है वह तो ज्ञान है जब तो है। ज्ञान ही न होता तो? उसकी प्रसिद्धि कौन करता है? ज्ञान। ऐसा अत्यंत प्रकाशमान ज्ञान का पिण्ड आत्मा, वह जीव को स्वयंके अनुभव का अत्यंत कारण है, जोरदार कारण है, बलवान कारण है। ऐसा लेना है। जब वह स्वयं ही बलवान कारण है तो तुझे अनुभव में क्यों नहीं आता? ऐसा कहना है। जैसे वहाँ चंद्र के बारे में प्रश्न किया कि सामान्य बादल होने पर तुझे इतना बड़ा चंद्र नहीं दिखता है? वैसे यह अत्यंत अनुभव का कारण है फिर भी तुझे अनुभव में क्यों नहीं आता?

मुमुक्षु :- भाईश्री! यहाँ आपने दो बात ली। एक तो जाननेवाले को जानना और एक ज्ञान का अनुभव करना। यह दोनों किस तरह?

पूज्य भाईश्री :- दोनों प्रक्रियाएँ हो रही हैं। दोनों प्रक्रियाएँ हो रही हैं। प्रश्न इसलिये उठता है कि यह किस प्रकार देखना? तो कहते हैं, एक बार पर की ओर देखना बंद कर। एक आदमी समुद्र के किनारे समुद्र की ओर पीठ देकर खड़ा है फिर पूछता है कि अगर समुद्र बहुत बड़ा होता अगाध पानीयुक्त तो एक बूँद तो दिखनी चाहिये न! मुझे तो एक बूँद पानी भी नहीं दिखता तब उसे क्या कहना पड़े? कि तू पीठ देकर खड़ा है इसलिये नहीं दिखता है। तू किनारे इसतरह पीठ देकर खड़ा है कि, तेरे पीछे बड़ा समुद्र है। तुझे समुद्र बिलकुल नहीं दिखता यह बात बराबर है। तू स्वयं घुम जा। समुद्र को कहीं से लाना नहीं पड़ेगा। समुद्र तो स्वयं में डोल ही रहा है।

आगे ऐसा लिया है, 'पर की ओर देखने से...' जीव परकी ओर कैसे देख रहा है? अर्थात् 'अपने में अपने आप को नहीं देखने से...' इस तरह पर की ओर देख रहा है। किसतरह? पर तरफ इस तरह देख रहा है कि, खुदको अपने आप में देखने का सदंतर छोड़कर। वहाँ जैसे आदमी समुद्र को पीठ देकर खड़ा है वैसे। पर को परलक्ष्य पूर्वक इसतरह देखता है कि स्वयं को अपने आपमें नहीं देखता।

मुमुक्षु :- लक्ष का जो दृष्टांत आप देते हैं कि,

यह पेड़ को जाना इसमें वह कैसे हुआ? कि वह स्वयं को भूलकर जानता है। आप कहते हैं न कि, केवलज्ञान में भी पेड़ जानने में आता है और (यहाँ) आत्मा में पेड़ को जानता है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ एकान्तरूप से देखता है। हर ज्ञेय को एकांत पूर्वक देखते हैं। स्वयं को भूलकर।

'पर की ओर देखने से, अर्थात् अपने में अपने आप को नहीं देखने से, परन्तु अपने में पर नहीं होते हुए भी-परको देखने से...' पर का अपने में अभाव होनेपर भी पर को स्वरूप देखता है। वह कैसे? जैसे बाहर आवाज होने लगा। शांति से हम स्वाध्याय कर रहे हैं, शांत माहोल में। ऐसे में बाहर से जोर-जोर से आवाज आने लगी। वास्तव में आवाज कहाँ है? आवाज तो उसके अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में है। हमने कहाँ अनुभव किया? कि मुझे कोई दखलअंदाजी कर रहा है। मेरे में जैसे दखलअंदाजी हो रही है। इसमें भी कोई जोर-जोर से आवाज दे कि, एय..! बाहर निकल! तू निकल बाहर। तुम बाहर निकलो, एकबार तुम बाहर निकलो तो सही, ऐसा कहे तो? जैसे पूरा का पूरा मेरे में प्रवेश हो गया। सारी आवाज जैसे खुद के अंदर प्रवेश कर गई। इसप्रकार पर को देखता है। पर सन्मुख देखने में जीव ऐसे देखता है कि, मानो जैसे पर का प्रवेश खुद के अंदर हो गया हो।

अपने में पर को देखना मतलब क्या होता है कि पर के प्रतिभास में पर के अस्तित्व का भ्रम हो जानेपर जैसे वह आवाज का अस्तित्व मेरे में है, ऐसा भ्रमयुक्त अध्यास खुद को होता है। 'खुद अपनी विद्यमानता को भूलता है।' ज्ञानमयरूप स्वयंकी जो विद्यमानता है। ज्ञानमयपना भी कैसा ज्ञानमयपना? भिन्न ज्ञानमयपने अपना जो अस्तित्व है उसे विस्मरण कर लेता है। विद्यमानता तो भिन्न ज्ञानमयरूप है। उसे भूल जाता है। यह कैसी गड़बड़ी होती है, किसप्रकार गड़बड़ी होती है। इसमें भी जो जीव Tension में आता है न? वह तो ऐसा उलझता है, ऐसा उलझता है कि, जैसे मानों उन ज्ञेयोंमें डूब गये न हो, ज्ञेय में ही डूब गये। ज्ञेय में तो क्या (इतनी) चिंता में डूब गये हो।

फिर से, 'पर की ओर देखने से अर्थात् अपने

में अपने आप को न देखने से, परन्तु अपने में... पर को देखने से...' पर को कैसे देखता है कि अपने में पर को देखता है। पर अपने में न होने पर भी, मानो जैसे अपने में पर का अस्तित्व है ऐसा भ्रम होने के कारण स्वयं अपनी विद्यमानता को भिन्न ज्ञानमय ऐसी जो विद्यमानता है उसे भूलता है।

'परन्तु...' फिर भी। अब यहाँ एक विशेष बात लेनी है '...अनुभवगोचर होता हुआ स्पष्ट चैतन्य...' अनुभवगोचर होता हुआ स्पष्ट चैतन्य। दूसरा अनुभव नहीं होता, हो सकता भी नहीं है। असंभवित और अशक्य है। तनिक ध्यान से देखने की जरूरत है। तो अवश्य मालूम होगा कि 'अनुभवगोचर होता हुआ स्पष्ट चैतन्य, जो जीव का स्वरूप वह जीव के प्रति (स्वयंके प्रति) उपयोग मोड़ने से...' यानी कि खुद के प्रति उपयोग को ले आने से 'प्रगट दिखता है।' (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक) ४३७, ४३८ दोनों में एक ही विषय लिया है न? 'बनारसीदासजी' के पद से। एक ही विषय लिया है। 'समता रमता, उर्ध्वता, ज्ञायकता, सुखभास' ऐसी बात की। इसमें से है।

'अनुभवगोचर होता हुआ स्पष्ट चैतन्य जो जीवका स्वरूप, वह जीव के प्रति (स्वयं के प्रति) उपयोग मोड़ने से प्रगट दिखता है।' दिखता है मतलब प्रगट 'वेदन में आता है। खुद अपने से परोक्ष कैसे रह सकता है?' प्रश्न उठाया है कि खुद अपने आप से परोक्ष कैसे रह सके? जो प्रगट है, स्वतः अपने से अनुभवगोचर है। स्वसंवेद्यमान है। 'खुद तो प्रत्यक्ष ही है' स्वयं तो प्रत्यक्ष ही है। प्रगट है और प्रत्यक्ष ही है।

'प्रत्यक्ष को प्रत्यक्षरूप से देखने से...' प्रत्यक्ष को प्रत्यक्षता से देखने पर 'वेदनप्रत्यक्षता आविर्भूत होती है।' यह विधि का विषय किस प्रकार है। अनुभव की विधि का विषय इस प्रकार है। 'अनन्त ज्ञानी प्रतीति में स्वयं को प्रत्यक्ष कर-करके अजर-अमर हुए-यह स्व में अभेदज्ञान का प्रयोग है।' भेदज्ञान के प्रयोग की बात चलती है। भेदज्ञान शब्द है वह सापेक्ष है। पर से व राग से भिन्नता करने की बात है। परन्तु ऐसे भेदज्ञान का फल अभेदज्ञान है। अपना प्रत्यक्ष अनुभव होना यह भेदज्ञान का फल है। यानी कि वह

अभेदज्ञान है। भेदज्ञान करते-करते कहाँ आया? अभेदज्ञान तक। विषय थोड़ा कठिन सा लगे ऐसा है। अध्यात्म का विषय बहुत सुंदर है।

फिर से, 'जो एकरूप ज्ञानाकाररूप से प्रकाशमान है,...' ज्ञ... ज्ञ... ज्ञ... ज्ञ... ज्ञ... ज्ञ... ज्ञ... ज्ञपना सामान्यज्ञान ले लो। जो एकरूप ज्ञपना है वही जीव का स्वरूप है। जो प्रगटरूप से प्रकाशमान है। प्रकाश माने वेदन में आये वैसा प्रकाशमान है। अनुभव में आये ऐसा प्रकाशमान है।

मुमुक्षु :- परम निधान प्रगट मुख आगल...

पूज्य भाईश्री :- हाँ, 'आनंदघनजी' ने गाया है न? 'परम निधान प्रगट मुख आगल, जगत उल्लंघी हो जाय जिनेश्वर, ज्योति विना जुओ जगदिशनी, अंधोअंध पलाय जिनेश्वर, प्रवचन अंजन जो सद्गुरु करे, देखे परमनिधान जिनेसर, हृदय नयण निहाले जगधणी, महिमा मेरु समान जिनेसर।' 'निहाले' नाम देखे तो महिमा मेरु समान है।

मुमुक्षु :- महिमा मेरु समान है वह गुरु के लिये है?

पूज्य भाईश्री :- नहीं, अपने स्वरूप के लिये है। अपने स्वरूप को देखे... 'हृदय नयण निहाले जगधणी' जगधणी नाम अपना आत्मा तीन लोक का नाथ है। जगधणी नाम तीनलोक का नाथ है। उसे हृदय-नयन से देखे-अंतर्मुख होकर देखे तो उसकी कितनी महिमा आये? मेरु जितनी महिमा आये।

मुमुक्षु :- 'प्रवचन अंजन जो सद्गुरु करे'

पूज्य भाईश्री :- इसके बिना तो दिखना नामुमकिन है। आँख में अंजन उन्होंने किया। मुमुक्षु की आँख में अंजन सद्गुरु ने किया जब तो दिखा। वरना तो दिखना सम्भव नहीं है। दिखानेवाले कुछ देते नहीं हैं सिर्फ अंगूलीनिर्देश करते हैं। दिखानेवाले कुछ दे नहीं देते अंगूलीनिर्देश करते हैं। परन्तु जिसे देखने पर लाभ होता है, देखने का पुरुषार्थ भले ही खुद का हो, फिर भी देखने पर लाभान्वित होनेवाले को उपकारबुद्धि भी बेहद आती है। कितनी उपकारबुद्धि आती है? कि जिसकी कोई हद नहीं इतनी आती है। बेहद उपकारबुद्धि आती है।

क्यों बेहद उपकारबुद्धि आती है ? कि, उन्हें खुदको प्रतीत में आया, विश्वास आया, अनुभव में आया कि मुझे अनन्त लाभ हुआ, मुझे लाभ भी बेहद हुआ है। मेरा पूरा संसार छूट गया, चारों गति के दुःखों को नष्ट करके मैं तो अब परमेश्वरपद में विराजमान हो जाऊँगा। नजदीकी भविष्य में परमात्मपद में विराजमान हो जाऊँगा।

मुमुक्षु :- लाभ का कोई अंत नहीं है।

पूज्य भाईश्री :- अनन्त लाभ हुआ। अनन्त दुःख का अभाव होगा व अनन्त सुख प्रगट होगा। अतः तत्सम्बन्धित उपकार भी अनन्त भासित होता ही है। जो कि उचित ही है। ऐसा न हो, यानी कि ऐसी उपकारबुद्धि न आये तो जीव की कृतघ्नता समझनी। कृतघ्न शब्द समझे ? कोई काम कर देवे उसका बदला चुकाने के बजाय उसे नहीं के बराबर जाने, उसकी कीमत न करे, उसे कृतघ्न कहते हैं। कृतघ्नपना।

मुमुक्षु :- उपकार का बदला अपकार से करे।

पूज्य भाईश्री :- अपकार करना तो इससे भी ज्यादा खराब है। ये तो उपकार को नहीं के बराबर जाने। आपने मेरा काम किया तो जैसे इसमें क्या हो गया ? जैसे आपको डूबने से बचाया तो भी कुछ नहीं, इसमें कौन सी बड़ी बात है ? यह कितना अनुचित लगे ? उसे कृतघ्नपना हुआ कहते हैं। किया फिर भी उसे नष्ट कर डाला। 'घ्न' नाम हनना-नष्ट करना। शब्द आता है न ? 'शत्रुघ्न' शब्द नहीं आता ? शत्रु का घात करे वह शत्रुघ्न। आत्मा शत्रुघ्न है। अरिहंत है वैसे शत्रुघ्न भी हैं।

मुमुक्षु :- भाईश्री ! ज्ञानी के मार्ग में इसप्रकार जागृत करे और अपना स्वरूप बताये उसे तो हमेशा उपकारबुद्धि बढ़ती ही जाती है, उसे कृतघ्नपना नहीं आता होगा, क्यों भाईश्री ?

पूज्य भाईश्री :- यथार्थता में तो कृतघ्नपना नहीं आता, यथार्थता होगी तो कृतघ्नता नहीं आयेगी। और जिसको अनन्त लाभ होनेवाला है उसे अनन्त उपकार लगे इसमें कौन सी बड़ी बात है ? स्वाभाविक है।

फिर से, 'जो एकरूप ज्ञानाकाररूप प्रगटरूप से प्रकाशमान है,....' यह दिखा रहे हैं, आत्मा को

दिखा रहे हैं कि देख ! तू एकरूप ज्ञानाकाररूप से प्रगट प्रकाशमान हो। 'जो सर्वदा अचल और निराबाध रहता है...' तेरे स्वरूप से तू चलित नहीं हो रहा है, मिट नहीं जाता, तुझे कोई बाधा पहुँचा सके ऐसी किसी की ताकत नहीं है। तेरे स्वरूप तक किसी की पहुँच नहीं है।

'ऐसे जीव का स्वरूप ज्ञायकता...' है। ज्ञायकपने से प्रसिद्ध है। वह 'अत्यंत अनुभव का कारण है...' स्वयं को अपना अनुभव हो इसका बहुत प्रबल कारण है। 'पर की ओर देखने से अर्थात् अपने में अपने आपको नहीं देखने से; परन्तु अपने में-पर नहीं होते हुए भी-पर को देखने से खुद अपनी विद्यमानता को भूलता है।' खुद अपनी ज्ञानमय, भिन्न ज्ञानमय विद्यमानता है इसे भूल जाता है, चूक जाता है। 'परन्तु...' खुद अपनी विद्यमानता को इस कदर भूला है। तो भी...

'अनुभवगोचर होता हुआ स्पष्ट चैतन्य...' अकेला ज्ञान। अनुभवगोचर हो रहा स्पष्ट चैतन्य। अमिश्रित ज्ञान। कोई इसमें चिपक नहीं सकता। असंग तत्त्व है। सदा असंग तत्त्व है, सदा निर्लेप तत्त्व है। ऐसा जो जीव का स्वरूप 'वह जीव के प्रति (स्वयं के प्रति) उपयोग मोड़ने से प्रगट दिखता है...' दिशा पलटनी पड़े। परसन्मुख उपयोग को स्वरूप सन्मुख-अपने सन्मुख-करना चाहिये। वही अंतर्मुखता है, वही अंतर्मुखपना है। जो भी रहस्य है वह इसी जगह है।

अंतर्मुख कैसे होना ? अंतर जिज्ञासामें से यह प्रश्न उठे तो वेद-वेदकभाव समझ में आता है, वरना समझ में नहीं आता। कहाँ से जिज्ञासा खड़ी होनी चाहिये ? अंतर से उठनी चाहिये। मुझे अंतर्मुख कैसे होना ? देख। तेरा ज्ञान वेदक (स्वभावी) है। ज्ञान स्वयं का ही वेदन कर रहा है। स्वसंवेद्यमान है। ज्ञान कैसा है ? स्वसंवेद्यमान है। स्वयं अपने आपसे वेदनगोचर होवे ऐसा है। और स्वयं ही वेदक है। वेदक का ही वेदन हो रहा है। जो वेदन में आ रहा है वही वेदक है। और वह भी कितना ? अनन्त है। क्यों अनन्त है ? कि, अनन्त काल से परवेदन का अध्यास चालू रहा है फिर भी ज्ञानवेदन में कोई फर्क नहीं हुआ। इसलिये वह अनन्त है। इस

वेद्य-वेदकभाव में उपयोग अंतर्मुख रहता है। उपयोग कहाँ अंतर्मुख रहता है? वेद्य-वेदकभाव में। स्वयं ही अपना वेदन हो रहा है। स्वयंका ही स्वयं के द्वारा वेदन हो रहा है। इसतरह अपने वेदन से अनुभव में लेने पर उपयोग कहाँ से बाहर जायेगा? जिस ज्ञानविशेष में परज्ञेयों की आकृतियाँ झलकती थी, वही ज्ञानविशेष ज्ञानसामान्य पर आ गया। यानी कि उपयोग हो गया अंतर्मुख, (स्व की ओर) झुका।

जो कि उपयोग को स्वसन्मुख करने पर प्रगट दिखता है अथवा वेदन में आता है, प्रगट अनुभवगोचर होता है। और तभी स्पष्टरूप से मालूम होता है कि, 'खुद अपने से परोक्ष कैसे रह सकता है?' स्वयं अपने आपसे परोक्ष रहे, यह कैसे सम्भव है? सूर्य को कैसे आच्छादित करे? कहीये। आकाश में सूर्य है। कोई ऐसा कहे कि, उसे आच्छादित कर दो। क्या है कोई साधन? ऐसा यह ज्ञानसूर्य है। वह परोक्ष किसतरह रह पाये यह तो कहो! 'खुद तो प्रत्यक्ष ही है।' स्वयं तो स्वरूप को लेकर प्रत्यक्ष है, स्वरूप से तो अत्यंत प्रत्यक्ष है और अनन्त प्रत्यक्ष है।

७१० पत्र में 'कृपालुदेव'ने बात ली है। आत्मा है, आत्मा प्रगट है, आत्मा अत्यंत प्रगट है। इतना वचन है। वचनामृत छोटा है। आत्मा है, आत्मा प्रगट है, आत्मा अत्यंत प्रगट है क्योंकि स्वसंवेदन प्रगटरूप से अनुभवगोचर हो रहा है। कैसे संक्षिप्त वचन निकले हैं! अमृत की घूंट पिलाये ऐसी बात है।

'अनन्त ज्ञानी...' यानी कि सर्व ज्ञानियों 'प्रतीति में स्वयं को प्रत्यक्ष कर-करके अजर-अमर हुए।' 'अनुभव प्रकाश' में यह विषय चला है। अपनी प्रतीति में प्रत्यक्ष करे, बारम्बार प्रत्यक्ष करे। प्रत्यक्ष है और उसकी प्रत्यक्षता को बारम्बार प्रतीति में प्रत्यक्ष करे। प्रतीति से जोर देवे। प्रत्यक्षता के ऊपर जोर देवे। जन्म-मरण का नाश हो जायेगा, अजर-अमर हो जायेगा।

इसप्रकार का जो परिणामन है वह 'स्व में अभेदज्ञान का प्रयोग है।' अपने में अभेदज्ञान का यह प्रयोग है। यह प्रयोग का मतलब अपने परमात्मा का साक्षात्कार। अपने परमात्मा का साक्षात्कार है। जगत तो जगत की रीति से चलता है और चलता ही रहनेवाला है। Shutter बंद कर देना। वैसे ही चलनेवाला है। ऐसे ही चलता था, ऐसे ही चल रहा है और आगे ऐसे ही चलता रहेगा। तू अपने आपको एक ओर खिसका ले। तू अपने आप को अलग खिसका ले। ऐसा सुयोग मिला है और चरमसिमा की बात सामने आयी है, छुटकारा हो जाये ऐसी। जीव का छुटकारा हो जाये ऐसी बात है। तू अपने आपको बचा ले, वरना पर में अपनत्व का अनुभव कर-करके दुःखी-दुःखी हो जायेगा। पर में अपनत्व का या अपने में पर का अनुभव करके दुःखी, दुःखी हो जायेगा। Tension तो इसी का है न! अपने में पर का अनुभव ही Tension है। वरना आत्मा को क्या है? आत्मा को क्या? यानी मुझे क्या? सीधा ऐसा ही लगेगा। जो भी परिवर्तन हो रहे हैं सो तो बाहर में हो रहे हैं।

'समाधितंत्र' में तो 'पुज्यपादस्वामी'ने ऐसी बात ली है, कि, जगत के जीव तो मुझे देख नहीं सकते हैं। क्योंकि मैं अरूपी पदार्थ हूँ। और जगत के जीवों के पास जो इन्द्रियज्ञान है वह तो रूपीपदार्थ को देखने का है। वह तो रूप, रस, गंध, स्पर्श को देखता है। मुझे तो कोई देख नहीं सकता। देखता है सो तो शरीर के पूतले को देखता है, सो तो मैं हूँ ही नहीं। फिर मुझे क्या है किसी भी बात को लेकर? कुछ नहीं। किसी भी प्रकार का संबंध यह आत्माका किसी के साथ है ही नहीं न! असंग तत्त्व है। इसप्रकार अपने स्वरूप का अवलोकन कर-करके, प्रत्यक्ष कर करके पुरुषार्थ उग्र करना चाहिये। इसीप्रकार से पुरुषार्थ उग्र होता है, तीव्रता धारण करता है। यहाँ तक रखते हैं।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (दिसम्बर-२०१२) का शुल्क श्री सुमतिलाल शिवलाल शाह परिवार, (यु.एस.ए.) (शिकागो) के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

पूज्य भाईश्री द्वारा लिखित 'अनुभव संजीवनी' ग्रंथमें से कुछ एक वचनमृत

जीवको अनादिसे विषय-तृष्णाका रोग है - महारोग है। जिसे आत्माका सहजसुखका अनुभव/स्वसंवेदनरूप आस्वादन ही शांत कर सकता है। तीनोंकालमें यही एक इलाज है। (२१)



प्रतीतिके अनुसार उपयोगकी प्रवर्तना है । इसलिये जीवको चल-अनित्य पदार्थकी 'मैं पनेसे' प्रतीति होनेसे, उपयोग निरंतर चलरूप (चंचलतावाला) रहा करता है। उपयोग चलरूप द्रव्यभावों के प्रति अवलंबित रहा करता है। अतः स्थिरत्व हो नहीं सकता; तदुपरांत अचल (नित्य) पदार्थकी प्रतीति नहीं हो सकती। "अचल पदार्थकी सम्यक्प्रतीति उपयोगके स्थिरत्वका कारण है" जिससे वास्तविक शांति प्राप्त होती है। विपरीत प्रतीतिके कारण उपयोग भी भटकता रहता है, जो अशांति व दुःखका अनुभव कराता है। प्रतीति अनुसार ज्ञान व आचरण होता है; फिर भी वैसी सम्यक् प्रतीति होनेके लिये ज्ञान आराधनाके सिवा अन्य कोई उपाय नहीं है। अतः जीवको ज्ञानआराधनाका प्रीतिपूर्वक आराधन कर्त्तव्य है। (२२)



स्वभावका परिचय ही आत्माकी पहचान, विश्वास, प्रतीति व अनुभवका कारण है। (२३)



यथार्थ सत्संगकी प्राप्ति सर्वकालमें दुर्लभ रही है। उसमें भी इस कालमें तो दुर्लभसे दुर्लभ है। ऐसा सत्संग प्राप्त होनेके बावजूद भी फलवान नहीं होता है - इसके कारण निम्नरूपसे हैं:-

- (१) पूर्वमें ग्रहण किया हुआ / निश्चय किया हुआ मिथ्याअभिप्रायका आग्रह (रहता हो तो)
- (२) जीवको सत्समागम की उपासना अत्यंत गरजवान होकर करनी योग्य है । उस प्रकारके गरजभावका अभाव स्वच्छंदके सद्भावके कारण होता है; इसलिये प्राप्त सत्संग फलवान नहीं होता।
- (३) सत्पुरुषोंका बोध असिधारा समान है । परन्तु दर्शनमोहके बलवानपनेके कारण सत्समागममें सुने हुए / धारणामें लिये हुए बोधका परिणमन नहीं होता, जिसको यहाँ प्रमाद (प्रमादकालमें सुननेको मिलता हुआ बोध निरस / निरूत्साहित भावसे श्रवण होता है । - अतः परम प्रसन्न चितसे सत्का श्रवण होने योग्य है) कहनेमें आता है । ऐसी परिस्थितिमें साधारण तत्त्व विचार और मंदकषायकी प्रवृत्तिमें समय व्यतीत हो जाता है किंतु सत्संगका फलवान होना उसमें नहीं बनता अर्थात् आत्मा बोधको प्राप्त नहीं होता। [अतः परम प्रसन्न चित्त से सत् श्रवण होने योग्य है।]

(४) इन्द्रिय विषयोंके प्रति सहज निरसता सत्समागमके कालमें होनी चाहिये क्योंकि सत्समागम तो अतीन्द्रिय चैतन्य रस - निर्विकार स्वभावकी भावनाका आविर्भाव होनेका प्रसंग है फिर भी विषयोंकी उपेक्षा अगर नहीं होती (है तो) सुखबुद्धिसे तीव्र दर्शनमोह / आसक्ति चल रही है, जो कि सत्संगको सफल होने नहीं देती, अथवा

(५) सत्संगमें एकनिष्ठा व अपूर्व भक्तिका जितने अंशमें अभाव होता है उतने अंशमें सत्संगकी असफलता होती है । (श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक : ६०९ पर आधारित) (२४)



जब मन संदेह - शंका युक्त हो तब द्रव्यानुयोगका विचार करने योग्य है । मन जब प्रमादी हो जाय तब चरणानुयोग, कषाययुक्त हो जाय तब कथानुयोग और जड़ - सुस्त हो जाय तब करणानुयोगका विचार कर्त्तव्य है। इस प्रकार चारों अनुयोगका सदुपयोग करें । (२५)



जगतमें मोहासक्तिके निमित्त, वैभव-विलासके स्थान जिनको अंतःकरणमें विशेष-विशेष वैराग्यके उत्पादक (निमित्त) होते हैं, अहो ! ऐसे वस्तुस्वरूपके ज्ञानवान सर्व महात्मा वंदनीय हैं। (२६)



ध्यान वह आराधनाका उत्कृष्ट अंग है, ऐसा सर्व सम्मत है । परमपदका ध्यान परमपदकी प्राप्तिका अनन्य कारण है - ऐसा जो ध्यान है वह सत्पुरुषोंके चरणकमलकी विनयोपासनाके बिना हो नहीं सकता। - यह उत्कृष्ट रहस्यमय निर्ग्रन्थ वीतराग प्रवचन है। (२७)



इस संसारकी जंजाल विषम परिणामोंका निमित्त है, ऐसे इस संसारके प्रसंगोंमें, स्वरूपकी अपेक्षा अपनी भिन्नताका अवलोकन करते हुए / अनुभव करते हुए समता रहे, वही आत्मचिंतन है। (२८)



अनेकान्त वस्तुको परसे असंग दिखाता है और स्वरूप 'सत्' दिखाता है। स्वतंत्र वस्तुके असंगपनेकी 'स्वतंत्र श्रद्धा' असंगपनेकी खिलवटका उपाय है। अर्थात् 'असंग स्व-तत्त्व' की श्रद्धा असंग पदको प्रगट करती है। असंगताके संपूर्ण विकासका मूल 'असंगतत्त्व' की श्रद्धा है। (२९)



महान संतमुनिश्वरोंने अंतरमें प्रवाहित स्वभाव-अमृतको परमागमोंमें प्रवाहित किया है। शांत परिणामसे परिषहका वेदन करते हुए 'परम सत्' को जीवंत रखा है। पवित्र धर्म / मार्गको इस कालमें टिकाए रखनेमें आकाशके स्तंभ बनकर गजब का कार्य किया है। अहो ! उनके कथनमें केवलज्ञानकी / पूर्णताकी भनक सुनाई देती है। पद-पदमें अत्यंत गंभीर रहस्य भरा है ! इसके संस्कार भी अपूर्व चीज है; पुरुषार्थ चलने लगे वह तो समीप मुक्ति-गामी है - अल्पकालमें उसका मोक्ष होता ही है। (३०)



आत्मार्थीको देह छूटनेके संबंधमें खेद नहीं होता। उसकी स्वभावकी रुचि इस खेदको दूर करती है अथवा वह अपने प्रयत्नमें (धूनसे) लगा हुआ है; वहाँ किसी भी प्रकारसे देहकी चिंताका अवकाश नहीं है। (३१)



'नयपक्षके विकल्प रहित, एकाकार मेरा स्वरूप है, ऐसा प्रथम दृढ़ रहना चाहिये'- निःशंक रहना चाहिये; फिर विकल्प हो जाय, तो भी उसे तोड़कर (उक्त दृढ़तासे) स्वभावके प्रति जाना चाहिये। (३२)



लोभ : योग्यस्थानमें धनके व्ययका अभाव। माया :- (गुप्त पापरूप भाव) - पापको गुप्त रखनेका भाव। (३३)



द्रव्यदृष्टि प्रकाश ग्रंथमें से दृष्टि के परिणमन और दृष्टि के विषय पर पूज्य श्री सोगानीजी के वचनमृत



“शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वयं ज्योति सुख धाम” - कैसी सुंदर बात श्रीमद्जीने की है ! एक पंक्ति में सब बा आगई। बस, भाई ! तू इतना ही विचार (ज्ञान) कर। १९७.



‘मैं अधिक हूँ’ - यही स्वयं का महात्म्य भाव है। ‘मैं’ कोई भी भावमें - विकल्प में खिसकता नहीं, तणीजता (खींचिजता) ही नहीं, वैसा का वैसा और वहीं का वहीं हर समय रहता हूँ; विकल्प के साथ, परिणाम के साथ, खिसकता ही नहीं हूँ। क्या दर्पण का दल क्षणिक आकार में खिसकता है (आता है) ? - वैसा का वैसा ही रहता है। ऐसे ही, ‘मैं’ भी सदा वैसा का वैसा रहता हूँ। १९९.



अरे भाई ! ‘तू’ एक समय की पर्याय में आ नहीं जाता है। ‘तू’ तो अनंती पर्यायों का पिण्ड है; यदि ‘तू’ एक पर्याय में आगया तो अन्य सभी पर्यायों विधवा हो जायेंगी। २०३.



‘मैं’ ऐसा अपरिणामी (ध्रुव) पदार्थ हूँ कि तीनों लोकों के सभी पदार्थ इकट्ठे होकर भी मुझे हिला-डुला नहीं सकते। २०६.



साधक-बाधक - ये सब तो पर्याय का ज्ञान करने के लिए हैं। सबलाईका (अनंत वीर्य के पिण्डरूप का) चश्मा लगाए बिना, नबलाई का भी (यथार्थ) ज्ञान नहीं होता है। साधकपना - बाधकपना तो पर्याय की बात है, ‘हमें’ तो साधकपने-बाधकपने की भी दरकार नहीं है, क्योंकि बाधकपना ‘मुझे’ (त्रिकाली को) नुकसान नहीं पहुँचा सकता और साधकपना लाभ नहीं कर सकता; तो फिर इनका विचार क्यों ? २०७.



पर्याय मात्र की गौणता करो। अनुभव हुआ, नहीं हुआ - यह मत देखो। ‘त्रिकाली वस्तु ही मैं हूँ।’ पर्याय मात्र को गौण कर, इधर का (अंतर-स्वरूप का) प्रयास करो। अभिप्राय में एक दफ़ा तो सब से छूट जाना है। २२८.



ध्रुव तत्त्वपर पाँव (दृष्टि) रखो.... तो पर्याय में सब कार्य सहज ही होगा। २३०.



यहाँ (त्रिकाली में) अपनापन आते ही मोक्ष अपने आप हो जाता है। दृष्टि ‘यहाँ’ अभेद हुई तो इसे मुक्ति समझो ! २३७.



(विकल्पात्मक) कृत्रिम पुरुषार्थ की तो बात ही क्या ? लेकिन अक्रिय (चिद्बिंब की) दृष्टि में तो सहज पुरुषार्थ की भी गौणता है, क्योंकि वह भी क्रिया (एक समय की पर्याय) है। अक्रिय (स्वरूप)- दृष्टि में क्रिया मात्र की गौणता है। २४०.

पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

प्रश्न :- आप किसके बलपर कहती थी कि-सम्यग्दर्शन इतना दूर है....इतना दूर है?

समाधान :- ज्ञायकके बलपर कहती थी, ज्ञायकके जोरसे कहा जाता था। ज्ञायकके जोरसे ऐसा लगता था कि सम्यक्त्व निकट है। यह परिणति ऐसी है कि अन्त तक पहुँचकर ही रहेगी, यह पुरुषार्थकी धारा ऐसी है कि वह अंत तक जरूर पहुँचेगी। अपनी उग्रताके आधारसे कहती थी। कब होगा? कोई निश्चित नहीं लगता था और ऐसी कोई खबर भी नहीं थी; परन्तु ज्ञायककी अंतर उग्रतासे, अपनी भावनासे, पुरुषार्थके बलसे कहती थी।

(स्वानुभूतिदर्शन-३१४)



प्रश्न :- चौथे गुणस्थानमें ध्यानमें बैठे तभी निर्विकल्पदशा हो, यह ठीक है?

समाधान :- ध्यानमें बाहरसे बैठे या न बैठे; कभी बाहरसे बैठे और ध्यान होता है, कभी बाहरसे न बैठे तब भी ध्यान होता है। ज्ञाताका अस्तित्व जो उसने ग्रहण किया है, ज्ञायककी धारा जो वर्तती है उतनी एकाग्रता तो उसे चल ही रही है, इसलिये उस प्रकारका ध्यान तो उसको है ही। ध्यान अर्थात् एकाग्रता। तो उस प्रकारकी एकाग्रता तो उसे छूटी ही नहीं है, अमुक प्रकारकी एकाग्रता तो उसे वर्तती ही है। बाहरसे शरीर ध्यानमें बैठे तब ही एकाग्रतामें कोई विशेषता होती है ऐसा नहीं है, ऐसा कोई बंधन नहीं है।

(स्वानुभूतिदर्शन-३१५)



प्रश्न :- एकबार निर्विकल्पदशा आनेके पश्चात् अमुक काल उसकी राह देखनी पड़े ऐसा तो नहीं है?

समाधान :- उसकी कुछ राह देखनी नहीं पड़ती। जिसे अंतर-भेदज्ञानकी दशा चल रही है उसे

अमुक समयपर वह दशा हुए बिना रहती ही नहीं। समयका बन्धन नहीं है, अंतरकी दशा है। भेदज्ञानकी धारा वर्तती ही है इसलिये उसे हुए बिना रहती ही नहीं। जो अंतरसे न्यारा हुआ, उसका उपयोग यदि बाहर गया हो वह पुनः अंतरमें आये बिना रहता ही नहीं; क्योंकि उपयोगको बाह्यमें कहीं सर्वस्व नहीं है। भेदज्ञानकी धारा वर्तती है और स्वयं प्रतिक्षण न्यारा वर्तता है। न्यारी परिणति तो थी ही, उपयोग पलट जाता है। जैसी परिणति हो वैसा उपयोग होकर पुनः आये बिना नहीं रहता। उपयोग बाहर जाता है तो परिणतिकी डोर उसे अपनी ओर खींचे बिना नहीं रहती।



ज्ञायकरूपसे भेदज्ञानधाराकी परिणति उसे निरन्तर प्रतिक्षण सहजरूपसे चलती रहती है। उस परिणति की डोर न्यारी है। वह उपयोगको वहाँ (बाह्यमें) टिकने नहीं देती, अमुक समयपर उसे वापस खींच ही लाती है और स्वरूपमें लीनता-निर्विकल्पदशा-हुए बिना रहती ही नहीं।



प्रश्न :- ज्ञानीकी अंतरंग दशा इतनी बलवान् होती है कि उपयोगकी लाचारी नहीं करनी पड़ती?

समाधान :- ज्ञानीको उपयोगकी लाचारी नहीं करनी पड़ती। उसकी दशा ही ऐसी है कि उसे अमुक प्रकारकी शान्ति एवं उष्मता रहती ही है। स्वयं एकत्वबुद्धिसे नहीं वर्तता, न्यारा ही वर्तता है; उसकी न्यारी परिणति ही उपयोगको वापस खींच लाती है, वह अधिक समय तक बाहर नहीं टिक सकता। वह उपयोग पुनः अपने स्वरूपमें लीन हुए बिना रहता ही नहीं; उसकी न्यारी परिणति ही उसे वापस ले आती है। उसे निर्विकल्पदशाकी वाट देखकर बैठना नहीं पड़ता; उसे कोई शंका नहीं पड़ती। परिणति ही उपयोगको वापस खींच लाती है।

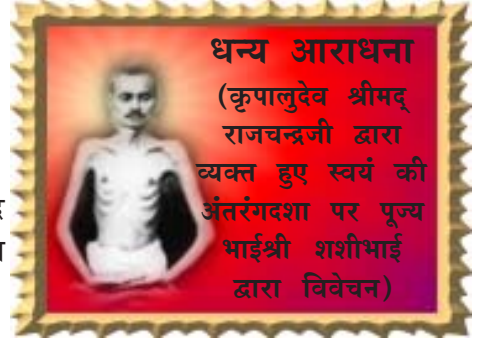
(स्वानुभूतिदर्शन-३१७)

१८७

बंबई, मगसीर वदी ३०, १९४७

‘प्राप्त हुए सत्स्वरूपको अभेदभावसे अपूर्व
समाधिमें स्मरण करता हूँ।’

पत्रके इस शीर्षकमें, अनुभवमें आये निजात्मस्वरूपका अभेद
निर्विकल्प अपूर्व समाधिमें अनुभव करके, अनुभवरूप स्मरण
किया है।



धन्य आराधना

(कृपालुदेव श्रीमद्

राजचन्द्रजी द्वारा

व्यक्त हुए स्वयं की

अंतरंगदशा पर पूज्य

भाईश्री शशीभाई

द्वारा विवेचन)

‘अन्तिम स्वरूपके समझनेमें, अनुभव करनेमें

अल्प भी न्यूनता नहीं रही है। जैसा है वैसा सर्वथा समझमें आया है। ... एक देश
छोड़कर बाकी सब अनुभवमें आया है। एक देश भी समझमें आनेसे नहीं रहा; परन्तु
योग (मन, वचन, काया) से असंग होनेके लिये वनवासकी आवश्यकता है; और ऐसा
होनेपर वह देश भी अनुभवमें आ जायेगा, अर्थात् उसीमें रहा जायेगा; परिपूर्ण
लोकालोकज्ञान उत्पन्न होगा, और उसे उत्पन्न करनेकी (वैसे) आकांक्षा नहीं रही, फिर
भी उत्पन्न कैसे होगा? यह भी आश्चर्यकारक है! परिपूर्ण स्वरूपज्ञान तो उत्पन्न हुआ
ही है; और इस समाधिमें से निकलकर लोकालोकदर्शनके प्रति जाना कैसे होगा?

यह भी एक मुझे नहीं परन्तु पत्र लिखनेवालेको विकल्प होता है।’

अंतर्मुख अतीन्द्रियज्ञानमें, केवलज्ञानमें जैसा पूर्ण आत्मस्वरूप ज्ञेय होता है वैसा ही, अनुभवमें
आया है और अनुभवपूर्वक समझमें आया है। इसमें अल्प भी विपरीतता नहीं रही, वस्तुस्वरूप जैसा
है वैसा समझमें आया है। सर्व प्रत्यक्षका एक देश छोड़कर अनुभव प्रत्यक्ष सर्व अनुभवमें आया है।
सर्व प्रत्यक्ष होनेके लिए सर्व संबंधसे असंग होकर मुनिदशामें वनवासमें रहनेकी आवश्यकता है, यह
स्वयंके ज्ञानमें यथार्थरूपसे है। और ऐसा होनेपर सर्व प्रत्यक्ष ज्ञान प्रगट होते ही ऐसा उस ज्ञानमें
लीन रहना हो पायेगा। साथ ही साथ अचिंत्य लोकालोकका ज्ञान भी उत्पन्न होगा। यद्यपि ऐसी
लोकालोकको जाननेकी आकांक्षा नहीं रही, तथापि वह अवश्य उत्पन्न होगा, ऐसी प्रतीति वर्तती है।
निरवशेष अंतर्मुख समाधिमें रहने पर भी साथ ही साथ लोकालोकका दर्शन भी उत्पन्न होता है,
यह एक अचिंत्य और आश्चर्यकारक घटना है, अतः उसका विकल्प मनको होता है, परन्तु स्वरूपज्ञानमें
अंतिम स्वरूप समझमें आ गया होनेसे आत्माको उसका विकल्प नहीं है। स्वरूपानुभवी में तो मनके
उक्त विकल्पसे भिन्न हूँ। ऐसे अलौकिक परिणामको कृपालुदेवने अपनी मौलिक शैलीमें व्यक्त किया है।

‘(कुछ) मुक्ति भी नहीं चाहिये, और जिस पुरुषको जैनका केवलज्ञान भी नहीं
चाहिये, उस पुरुषको अब परमेश्वर कौनसा पद देगा?’

आत्मभावमें, अत्यंत मस्तदशामें और द्रव्यदृष्टिके जोरमें ये वचन लिखे गये हैं। मुक्ति और केवलज्ञानसे
भी पार ऐसे आत्मस्वरूपका अनुभव होने पर इतनी तृप्ति रहती है कि जिसके कारण अब परमात्मासे
भी माँगनेकी इच्छा शांत हो गई है। इस वचनामृतमें द्रव्यदृष्टिका रहस्य रख दिया है, यह रहस्य
उत्तमजीवकी समझमें आता है, दूसरोंको समझना कठिन पड़ता है; अतः इस विषयमें लंबी बात लिखना
उन्हें योग्य नहीं लगा। इतना ही नहीं विस्तारयुक्त लिखने पर विकल्प वृद्धिगत् हो और स्वरूपमस्तीमें
विक्षेप पड़े, ऐसा होना असंभवित है, अतः आत्ममस्तीके कारण लिखनेकी बाह्यवृत्ति कम हो गई है।

ॐ



हे शशीप्रभु ! आपश्री की ८०वीं जन्मजयंति
प्रसंग पर आपके चरणकमलमें भक्तिपुष्प अर्पण
कर आपका अभिवादन करते हैं।

- स्वानुभूतिप्रकाश परिवार